

# भोपाल में मेडिकल अनुसंधान क्यों रुका?

डॉ. सी. सत्यमाला एवं एन.डी. जयप्रकाश

सर्वोच्च न्यायालय ने अक्टूबर 1991 के अपने आदेश में भारत सरकार और यूनियन कार्बाइड के बीच हुए मुआवजे के समझौते को बरकरार रखा था। इस निर्णय के बाद भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद ने भोपाल गैस त्रासदी के दीर्घकालीन चिकित्सकीय प्रभावों को लेकर चल रहे अनुसंधानों व अध्ययनों से हाथ खींच लिए। हाल में सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दिया है कि परिषद वे अनुसंधान जारी रखे। मगर सवाल तो यह है कि परिषद जैसी स्वायत्त वैज्ञानिक संस्था आखिर सरकार के हाथों की कठपुतली बनने को कैसे तैयार हो गई?

**भो**पाल गैस त्रासदी के पीड़ितों को उचित चिकित्सकीय राहत और पुनर्वास की व्यवस्था करने की मांग को लेकर प्रभावित लोगों और उनके लिए संघर्षरत संगठनों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में दायर एक याचिका 9 अगस्त 2012 को अपने मुकाम पर पहुंची। भोपाल गैस पीड़ित महिला उद्योग संगठन की याचिका पर सुनवाई करते हुए अदालत ने केन्द्र सरकार, म.प्र. सरकार और भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद (आईसीएमआर) को अनुसंधान जारी रखने, गैस प्रभावितों के निदान व उपचार के लिए कोई मानक प्रोटोकॉल तैयार करने और साथ ही मरीजों को उनके इलाज का पूरा विवरण (मेडिकल हिस्ट्री एंड ट्रीटमेंट) दर्ज करने वाली हेल्थ बुकलेट देने के निर्देश दिए।

जिस संदर्भ में यह निर्देश दिया गया है, उस संदर्भ में इसे बेहद क्रांतिकारी माना जा सकता है, लेकिन यह तथ्य अपने आप में बहुत क्षुब्ध कर देने वाला है कि आखिर आईसीएमआर को अनुसंधान जारी रखने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश की ज़रूरत क्यों पड़ी, जबकि चिकित्सा शोध संस्था होने के नाते यह तो उसकी प्राथमिक ज़िम्मेदारी थी। सवाल यह है कि आखिर आईसीएमआर ने अपने नैतिक दायित्व को छोड़कर सरकार के निहित स्वार्थों के सामने नतमस्तक होना कैसे स्वीकार कर लिया था।

2-3 दिसंबर 1984 की दरम्यानी रात को अमरीकी बहुराष्ट्रीय कंपनी यूनियन कार्बाइड कार्पोरेशन (यूसीसी) की सहायक कंपनी यूनियन कार्बाइड इंडिया लिमिटेड के कारखाने से निकली जहरीली गैस से नौ लाख की आबादी

वाले शहर की करीब दो-तिहाई आबादी प्रभावित हुई थी। जैसी कि संभावना थी, यूसीसी इस बात से साफ मुकर गई कि उसकी ओर से कोई गलती हुई है और उसने मिथाइल आइसोसाइनेट (एमआईसी) के जहरीले प्रभावों की जानकारी देने से भी इंकार कर दिया। यह एमआईसी ही था जो कारखाने के परिसर में तरल रूप में संग्रहित था और उसकी ऊष्मा-जनक अभिक्रिया ही इस हादसे की वजह बनी थी। महत्वपूर्ण विष वैज्ञानिक जानकारी के अभाव में आईसीएमआर को इस रासायनिक हादसे की प्रकृति को समझने के लिए खुद ही आंकड़े व जानकारी जुटानी पड़ी थी और उसने विष प्रतिकारक (एंटीडोट) और उपचार विकसित किए थे।

हादसे के तुरंत बाद केंद्र और राज्य दोनों सरकारों इसके स्वास्थ्य सम्बंधी प्रभावों का आकलन करने को लेकर काफी गंभीर नज़र आई। गैस राहत एवं पुनर्वास आयुक्त के अनुरोध पर प्रभावित लोगों का पहला व्यवस्थित सर्वे टाटा



इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज (टी.आई.एस.एस.) ने किया था। इसके लिए म.प्र. सरकार द्वारा वित्तीय प्रावधान करने से इंकार करने के कारण सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट ने इसकी फंडिंग की थी। इंस्टीट्यूट के 478 विद्यार्थियों, 41 फैकल्टी सदस्यों और 13 अन्य कर्मचारियों ने घर-घर जाकर इस सर्वे को 1 जनवरी 1985 से फरवरी 1985 के दूसरे सप्ताह के बीच संपन्न किया था। इसमें 25,259 परिवारों का सर्वे किया गया था।

इसके साथ ही आईसीएमआर ने दीर्घकालीन महामारी सम्बंधी अध्ययन के लिए एक सैम्पलिंग फ्रेम विकसित करने की दिशा में पहले कदम के रूप में गैस प्रभावित परिवारों को विशिष्ट पहचान संख्या देने की प्रक्रिया शुरू की। मृतकों की पोस्टमार्टम रिपोर्ट 'साइनाइड-नुमा' ज़हर का संकेत कर रही थी। इस पर आईसीएमआर ने विष प्रतिकारक के रूप में सोडियम थायोसल्फेट रसायन के प्रभाव का आकलन करने के लिए एक क्लीनिकल अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंची कि गैस प्रभावितों की दीर्घकालीन तकलीफों को दूर करने में सोडियम थायोसल्फेट उपयोगी हो सकता है।

लेकिन आईसीएमआर दो कारणों से अपनी इस अनुशंसा पर स्वयं आगे नहीं बढ़ पाया। एक, यूनियन कार्बाइड से प्रभावित भोपाल की शक्तिशाली मेडिकल लॉबी इसके खिलाफ थी और दूसरा, केन्द्र सरकार का दुलमुल रवैया। उधर, म.प्र. सरकार ने टीआईएसएस द्वारा संग्रहित आंकड़ों को दबाने का काम किया। टीआईएसएस ने ये आंकड़े केवल इस विश्वास पर म.प्र. सरकार को सौंप दिए थे कि वह आगे की रणनीति बनाने में इनका इस्तेमाल करेगी।

1985 की शुरुआत में भारतीय संसद ने भोपाल गैस रिसाव आपदा (दावों का अभियोजन) कानून पारित किया जो 20 फरवरी 1985 से लागू माना गया। इसका एक घोषित मकसद प्रभावितों को अमरीकी वकीलों के शोषण से बचाना था। इस कानून से सरकार को 'जन अभिभावक' की भूमिका मिल गई और सभी गैस पीड़ितों के दावे एक छाते के नीचे आ गए। इस कानून ने भारत सरकार को इस हादसे के सम्बंध में किसी भी व्यक्ति की ओर से देश या देश

से बाहर दावा करने का एकछत्र अधिकार दे दिया। इस कानून के तहत पीड़ितों को स्वयं की पैरवी करने का कोई अधिकार नहीं रह गया।

वर्ष 1986 में इसे सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती भी दी गई, लेकिन शीर्ष अदालत ने कानून को संवैधानिक रूप से वैध करार दिया। अगर सरकार को किसी नागरिक के विधिक अधिकारों की पैरवी करने का हक मिला तो उसका मतलब था कि सरकार को नागरिकों के चिकित्सकीय अधिकारों का भी पक्षधर बनने का विशिष्ट अधिकार हासिल हो गया। इस तरह से यह निर्णय करने का अधिकार केवल सरकार को ही मिल गया कि वह घातक गैसों के स्वास्थ्य सम्बंधी प्रभावों का आगे अध्ययन करवाएगी या नहीं, किन पहलुओं पर शोध करवाएगी, उनके निष्कर्षों को दावेदारों के साथ साझा करेगी या नहीं और यूनियन कार्बाइड के खिलाफ अदालती मुकदमे में वह इन निष्कर्षों का इस्तेमाल करेगी या नहीं।

इस कानून के पारित होने के बाद केन्द्र सरकार के लगातार बदलते रुझान के मद्देनज़र पीड़ितों को चिकित्सकीय राहत के लिए अंततः अदालत की शरण में जाना पड़ा। अगस्त 1985 में सर्वोच्च न्यायालय में दायर इस याचिका में बताया गया कि कैसे गैस प्रभावितों को सोडियम थायोसल्फेट देने से भोपाल की चिकित्सा बिरादरी आनाकानी कर रही है। साथ ही शीर्ष अदालत को स्वास्थ्य सुविधाओं के अभाव के बारे में भी अवगत कराया गया। इस पर सर्वोच्च न्यायालय ने सात विशेषज्ञों की एक समिति गठित की जिसमें तीन सदस्य आईसीएमआर से और दो-दो सदस्य भारत सरकार और गैस पीड़ितों के प्रतिनिधियों से रखे गए। इस समिति को गैस प्रभावितों में ज़हर का प्रभाव दूर करने में सोडियम थायोसल्फेट उपचार की उपयोगिता का परीक्षण करने, दस्तावेज़ीकरण के मकसद से महामारी के सर्वे के लिए एक उचित डिज़ाइन सुझाने, पीड़ितों को मुआवज़े का निर्धारण करने, चिकित्सकीय राहत के लिए दिशानिर्देश की अनुशंसा करने और प्रभावितों की निगरानी करने का कार्य सौंपा गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 4 नवंबर 1985 के आदेश में भी दीर्घकालीन चिकित्सकीय निगरानी की ज़रूरत पर

जोर दिया था : “एक स्वतंत्र मशीनरी का गठन वांछनीय है जो उचित महामारी सर्वे और गैस प्रभावितों के घर-घर जाकर सर्वे करे। यह गैस प्रभावितों और उनके परिवारों को दिए जाने वाले मुआवजे के निर्धारण के लिए भी आवश्यक है। साथ ही गैस प्रभावितों के लिए समुचित चिकित्सकीय सुविधाएं सुनिश्चित करने के मकसद से भी ऐसा करना जरूरी होगा।”

## अपर्याप्त अध्ययन

सदस्यों के भिन्न-भिन्न विचारों के कारण समिति एक सर्वसम्मत निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकी। वर्ष 1987-88 में समिति में शामिल गैस पीड़ितों के दो प्रतिनिधियों ने अपनी ओर से एक रिपोर्ट पेश की जिसका शीर्षक था - “भोपाल गैस पीड़ितों की चिकित्सकीय राहत एवं पुनर्वास पर अंतिम रिपोर्ट”। इस रिपोर्ट में आईसीएमआर द्वारा किए गए अध्ययनों, खासकर महामारी सम्बंधी अध्ययन की खामियों को चिन्हित किया गया था। यह रिपोर्ट 30 अगस्त 1988 को अदालत में प्रस्तुत की गई, लेकिन इस पर संज्ञान नहीं लिया गया। उधर, याचिका के जवाब में भारत सरकार ने अपनी ओर से एक वैज्ञानिक आयोग गठित कर दिया जिसका मकसद भोपाल में हुए गैस रिसाव के जैविक तंत्र पर निरंतर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना था। इसकी कमान इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टॉक्सिकोलॉजी रिसर्च के पूर्व निदेशक सी.आर. कृष्णमूर्ति को सौंपी गई थी।

आयोग ने जुलाई 1987 में अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को सौंप दी थी, लेकिन इसे अदालत में पेश नहीं किया गया। करीब हजार पन्नों की “भोपाल गैस त्रासदी: जैविक तंत्र पर प्रभाव” शीर्षक से प्रस्तुत इस रिपोर्ट में आईसीएमआर के अध्ययन पर यह टिप्पणी की गई थी: “... त्रासदी से निपटने के लिए भोपाल में शुरू किए गए कार्यक्रम की गति बहुत ही सुस्त रही है। इसकी डिज़ाइन और बुनियादी ढांचे में बहुत सारी खामियां थीं जिससे क्रियान्वयन में कई दिक्कतें आईं।”

रिपोर्ट ने अध्ययन किए जाने वाले कई पहलुओं की ओर भी ध्यान केंद्रित किया था : “हज़ारों गैस प्रभावितों,

जिनमें बच्चे भी शामिल हैं, की तकलीफों का स्थाई निदान क्या है? गैस प्रभावितों में से ऐसे कितने हैं, जिन्हें आजीवन विकलांगता का दंश झेलना होगा? क्या गैस प्रभावितों की भावी पीढ़ियों पर भी इस त्रासदी का असर होगा?”

इसने यह महत्वपूर्ण अनुशंसा की थी “... भोपाल गैस पीड़ितों के दीर्घकालीन स्वास्थ्य सम्बंधी अध्ययनों पर निगरानी रखने और उनके लिए उच्च स्तरीय समन्वयन के वास्ते केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय को आईसीएमआर और अन्य एजेंसियों की मदद से एक समुचित व्यवस्था बनानी चाहिए।”

## सरकार की मिलीभगत

भोपाल कानून से लैस केंद्र सरकार ने 14 और 15 फरवरी 1989 को त्रासदी से सम्बंधित तमाम मामलों का जिस तरह से निपटारा किया, उसी से बहुत कुछ साफ हो गया था। स्पष्ट था कि यह निपटारा हादसे से पीड़ित लोगों को पहुंची क्षति की प्रकृति की वैज्ञानिक समझ के आधार पर नहीं किया गया था, क्योंकि विभिन्न वैज्ञानिक एजेंसियों द्वारा एकत्र किए गए आंकड़ों को अदालत के समक्ष पेश ही नहीं किया गया था।

अन्यायपूर्ण एकपक्षीय समझौते के राष्ट्रव्यापी विरोध के बाद अंततः सर्वोच्च न्यायालय ने 4 मई 1989 के आदेश में स्पष्टीकरण देते हुए मुआवजे की रकम को तर्क का कुछ आधार देने की कोशिश की। समझौते को चुनौती देने वाली पुनर्विचार याचिका की सुनवाई के दौरान गैस प्रभावितों के समूहों को पहली बार इस बात का पता लगा कि सरकार ने हादसे में कितने लोगों को विभिन्न श्रेणियों में पीड़ित माना है। समझौते के 15 दिन पहले यानी 31 जनवरी 1989 को म.प्र. सरकार द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों के अनुसार करीब छह लाख दावेदारों में से महज़ 29,320 लोगों को ही घायलों की श्रेणी में रखा गया था। इनमें भी 100 से भी कम लोगों को स्थाई विकलांग (आंशिक या पूर्ण) माना गया था। इसका पीड़ितों के समूहों ने यह कहकर विरोध किया कि दावा निदेशालय द्वारा व्यक्तिगत क्षति मूल्यांकन की जो प्रक्रिया अपनाई गई थी, उसमें क्षति की प्रकृति का बहुत ही कम आकलन किया गया था। इससे 90 फीसदी प्रभावित

“कोई क्षति नहीं पहुंची” या “अस्थायी क्षति” की श्रेणी में शामिल कर लिए गए।

14 और 15 फरवरी 1989 के समझौते और सर्वोच्च न्यायालय के 4 मई 1989 के स्पष्टीकरण आदेश के बाद इस मामले में भारत सरकार की मिलीभगत साफ नज़र आने लगी थी। इसके बाद ही पीड़ितों के समूहों को भी एहसास हो गया था कि अब उन्हें भारत सरकार पर निर्भर नहीं रहना चाहिए और अपने हितों की रक्षा के लिए उन्हें स्वयं ही कानूनी लड़ाई लड़नी होगी।

सर्वोच्च न्यायालय के एक आदेश के बाद पीड़ितों को उनके व्यक्तिगत क्षति मूल्यांकन की जानकारी हासिल करने की अनुमति मिल गई थी। इस बीच, नवनिर्वाचित राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने गैस प्रभावितों पर आईसीएमआर द्वारा की गई अध्ययन रिपोर्ट भी सार्वजनिक कर दी जो इससे पहले इतने सालों तक शासकीय गोपनीयता कानून की आड़ में दबाकर रखी गई थी। आईसीएमआर के अध्ययन से खुलासा हुआ कि जिन लोगों का गैस से संपर्क हुआ था, उनके कई अंगों पर इसका असर हुआ था और उसे ठीक करना असंभव था। यह असर भी समय के साथ लगातार बढ़ना ही था। इसका व्यापक असर लोगों के प्रतिरक्षा तंत्र पर हुआ था। रिपोर्ट के अनुसार शुरू में जिन लोगों पर इसका असर नज़र नहीं आ रहा था, उन पर बाद में इसका प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा था। गैस प्रभावित लोगों में कैंसर होने की आशंका भी जताई गई थी। दुर्भाग्यवश प्रभावितों के समूह इस समझौते, खासकर त्रुटिपूर्ण चिकित्सकीय श्रेणीकरण को प्रभावी ढंग से चुनौती देने में सफल नहीं हो पाए। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार भी इस मामले को अदालत में नहीं उठा पाई।

### क्यों रुके अनुसंधान?

3 अक्टूबर 1991 को पुनर्विचार याचिका पर अंतिम आदेश सुनाते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने समझौते के मुआवजे वाले हिस्से को बरकरार रखा। इसके बाद ही भारत सरकार ने इस मामले में चल रहे चिकित्सकीय अध्ययनों को बंद कर दिया। यह अदालत की उस व्यवस्था के खिलाफ था,

जिसमें कहा गया था कि, “... घातक मिथाइल आइसोसाइनेट के संपर्क में आई भोपाल की गैस प्रभावित आबादी के लिए अब से कम से कम आठ साल तक चिकित्सकीय निगरानी की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके लिए समय-समय पर गैस सम्बंधी जांचें भी की जानी चाहिए।”

इन अध्ययनों को बंद करने की भी वजह थी। समझौते में यह प्रावधान भी किया गया था कि इसके बाद भविष्य में यूनियन कार्बाइड के खिलाफ तमाम याचिकाएं खारिज मानी जाएंगी। यदि पीड़ितों को मुआवजे में कोई कमी-बेशी होती है या नए दावे सामने आते हैं (गैस प्रभावितों की कोई नई समस्या सामने आना या फिर उनकी अगली पीढ़ियों में इसका असर दिखाई देना) तो उनका निपटारा करने की जिम्मेदारी भारत सरकार की होगी। इसलिए अब दीर्घकालीन चिकित्सकीय अध्ययनों को बंद करना भारत सरकार के हित में ही था, क्योंकि इनसे नए दावे सामने आ सकते थे, जिनका मुआवजा भारत सरकार को ही देना पड़ता। यही वजह थी कि इसी साल आईसीएमआर के तमाम अध्ययन बंद कर दिए गए। शायद इसी वजह से बार-बार मांग होने और तमाम विधिक निर्देशों के बाद भी गैस पीड़ितों को उनकी मेडिकल हिस्ट्री को रिकॉर्ड करने के लिए हेल्थ बुकलेट उपलब्ध नहीं करवाई गई। सरकार को आशंका थी कि इस तरह की बुकलेट एक विधिक दस्तावेज़ बन सकती थी जिसके आधार पर दीर्घकालीन प्रभावों के लिए मुआवजे के दावे किए जा सकते थे।

भारत सरकार द्वारा चिकित्सकीय अनुसंधान दोबारा शुरू करने के कोई संकेत नहीं मिलने के कारण प्रभावितों के समूहों और उनके समर्थकों ने 1998 में एक बार फिर से शीर्ष अदालत की शरण ली। सर्वोच्च न्यायालय ने आईसीएमआर को चिकित्सकीय अनुसंधान दोबारा शुरू करने और पीड़ितों में हेल्थ बुकलेट वितरित करने के लिए म.प्र. के स्वास्थ्य निदेशालय को कई निर्देश दिए, लेकिन उनकी अवहेलना कर दी गई।

एक हालिया रिपोर्ट में आईसीएमआर ने चिकित्सकीय अनुसंधानों को बंद करने के पीछे तर्क देते हुए यह कहा, “परियोजना परामर्श समिति (पीएसी) और वैज्ञानिक परामर्श

समिति (एसएसी) की समीक्षा और अनुशंसाओं के बाद यह महसूस किया गया कि प्रोजेक्ट का मकसद पूरा हो गया है और इस वजह से उसे बंद कर दिया गया...(आईसीएमआर 2012)।”

इस बयान से आईसीएमआर ने वैज्ञानिक निष्ठा की जड़ों पर खुद ही प्रहार कर दिया, क्योंकि तमाम साक्ष्य उसके तर्क के खिलाफ जा रहे थे। दरअसल, 1985 से 1994 के आंकड़ों के आधार पर आईसीएमआर का ही एक ताज़ा प्रकाशन इस बात की पुष्टि करता है कि “इतने वर्षों के दौरान प्रभावित क्षेत्र में पुरुषों और महिलाओं दोनों में कैंसर के मामलों में अत्यधिक वृद्धि देखी गई, जबकि अप्रभावित क्षेत्र में ऐसी सतत वृद्धि के निशान नहीं पाए गए।”

इसमें कोई दो राय नहीं है कि आईसीएमआर में ऐसे

कई वैज्ञानिक हैं, जो व्यक्तिगत स्तर पर वैज्ञानिक नैतिकता के मानदंडों पर कार्य कर रहे हैं, लेकिन एक संस्था के तौर पर आईसीएमआर सरकार के हाथों की कठपुतली बनकर रह गई। भोपाल के इस अनुभव के बाद अब उन लोगों का केंद्र और राज्य सरकारों पर कोई भरोसा नहीं रह गया है जो भविष्य में होने वाले हादसों के संभावित स्थलों के आसपास रहते हैं। उन्हें नहीं लगता कि ऐसा कोई हादसा होने पर सरकार नागरिकों के हितों की रक्षा करने में समर्थ होगी। इसलिए अगर कुड्कुलम में लगाए जा रहे परमाणु संयंत्र का विरोध करने वाले नागरिक सरकार पर कोई विश्वास नहीं कर रहे हैं, तो इसमें गलत कुछ नहीं है। भोपाल गैस त्रासदी का शायद सबसे बड़ा सबक भी यही है। (स्रोत फीचर्स)